दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष अठवाँ
अंक पहला

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

वैशाख
२४७८

विरले!

विरलाः निशृण्वन्ति तत्त्वं विरलाः जानन्ति तत्त्वतः तत्त्वं।
विरलाः भावयन्ति तत्त्वं विरलानां धारणा भवति॥२७९॥
तत्त्वं कथ्यमानं निश्चल भावेन गृह्णाति यः हि।
तत् एव भावयति सदा सः अपि च तत्त्वं विजानाति॥२८०॥

भावार्थ—तत्त्व का यथार्थ स्वरूप सुनना-जानना-भावना और धारण करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस पंचमकाल में तत्त्व का यथार्थ कथन करनेवाले दुर्लभ हैं और धारणा करनेवाले भी दुर्लभ हैं।

जो पुरुष, गुरुओं द्वारा कथित तत्त्व के स्वरूप को निश्चलभाव से ग्रहण करते हैं, और अन्य भावना छोड़कर निरन्तर उसी की भावना करते हैं, वे पुरुष तत्त्व को जानते हैं।

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

८५

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अहो, संतों का पराक्रम!

'परमपारिणामिकभाव को प्रकाशित करनेवाले श्री नियमसार परमागम और उसकी टीका की रचना छठ्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महा समर्थ मुनिवरों द्वारा द्रव्य के साथ पर्याय की एकता साधते-साधते हो गई है। जैसे शास्त्र और टीका रचे गये हैं, वैसा ही स्वयं वेदन स्वयं कर रहे थे। परमपारिणामिकभाव के अंतर-अनुभव को ही उन्होंने शास्त्र में उतारा है;—प्रत्येक अक्षर शाश्वत्, टंकोत्कीर्ण, परम सत्य। निरपेक्ष कारणशुद्ध -पर्याय, स्वरूप प्रत्यक्ष सहजज्ञान आदि विषयों का निरूपण करके तो मुनिवरों ने अध्यात्म की अनुभवगम्य अत्यंत अत्यंत सूक्ष्म और गहन बात को स्पश्ट किया है। सर्वोत्कृष्ट परमागम श्री समयसार में भी उन विषयों का ऐसा स्पष्ट रीति से निरूपण नहीं है। अहो! जिसप्रकार कोई पराक्रमी पुरुष वन में जाकर सिंहनी का दूध दुह लाये, उसीप्रकार आत्मपराक्रमी महा मुनिवरों ने वन में बैठे-बैठे अंतर के अमृत का दोहन किया है। सर्व संग परित्यागी निर्ग्रंथों ने वन में रहकर सिद्ध भगवन्तों के साथ बातें की हैं और अनंत सिद्ध भगवन्त किसप्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए, उसका इतिहास इसमें भर दिया है।'

—पूज्य श्री कानजीस्वामी

(नियमसार गुजराती के उपोद्घात में से)

अहो ! अपने पुनीत प्रभाव द्वारा जिन्होंने अनेक मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में प्रेरित किया है... और भ्रष्ट तथा अन्य अनेक जीवों को वात्सल्यपूर्वक पुनः सन्मार्ग में दृढ़रूप से स्थापित किया है –ऐसे इन त्रिकाल मंगलस्वरूप पवित्र आत्मा पूज्य श्री कानजी स्वामी की पुनीत शरण में रहकर अपूर्व आत्मकल्याणक की उपासना करते हुए मुमुक्षुजनों के हृदय आनंद से अति उल्लसित होते हैं और उनके चरणों में मस्तक झुक जाता है।

हे कृपानिधि, पूज्य गुरुदेव ! आप आत्मार्थी जीवों के हृदय के आराम और जीवन के आधार हो... घोर अंधकार में भटकते हुए अनेक जिज्ञासु जीवों को कल्याणमार्ग की पगडंडी आपके ही पुनीत प्रताप से प्राप्त हुई है... हम मुमुक्षुओं के जीवन में आपका महान उपकार है... सर्व मंगल प्रसंगों में आपका ही महान उपकार है... आप हमारे आत्मोद्धारक है... इसलिये हमारे अंतर में से ध्वनि उठती है कि :—

'स्वति श्री सद्गुरवे'

'चैतन्यभानु का उदय'

[वैशाख शुक्ला २]

(१) आज, भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करनेवाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(२) सूर्य उदित होकर रात्रि के अंधकार का नाश करे, उससे पूर्व तो अज्ञान अंधकार का नाश करनेवाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(३) भव्यजीवों के संसार-समुद्र को सुखा देनेवाले उग्र चैतन्यभानु का उदय हुआ....

(४) अज्ञान-अंधकार में भटकनेवाले जीवों को मुक्तिमार्ग के प्रकाशक चैतन्यभानु का उदय हुआ....

(५) जैन शासनरूपी आकाश में एक जगमगाते हुए चैतन्यभानु का उदय हुआ....

हे साधर्मी बंधुओं.....!

(१) चलो! उस चैतन्यभानु की दिव्य किरणों को झेलकर आत्म-कमल को विकसाएँ....

(२) चलो! उस चैतन्यभानु के दिव्य तेज को झेलकर अज्ञान-अंधकार को मिटाएँ....

(३) चलो! उस चैतन्यभानु के दिव्य प्रताप को झेलकर भवसमुद्र को सुखा दें....

(४) चलो! उस चैतन्यभानु के दिव्य प्रकाश में मुक्तिमार्ग पर गमन करें.....

प....ह....ले

'ज्यां जोउं त्यां नजरे पडतां रागने द्वेष हा! हा।
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती पुण्य ने पाप गाथा।
जिज्ञासुने शरणस्थल क्यां? तत्वनी वात क्यां छे?
पूछे कोने पथ पथिक ज्यां आंधळा सर्व पासे।'

अ....ब

'ज्यां जोउं त्यां नजरे पडतो शुद्ध आत्मा ज आहा!
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती शुद्ध आत्मानी वार्ता।
जिज्ञासुने शरणस्थल ह्यां, तत्त्वनी वात ह्यां छे,
पूछे आवी पथपथिक सौ ज्ञानीओ छे ज पासे।'

अहो! अहो! श्री सद्गुरु!

'स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।'

'जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप का कथन करने योग्य नहीं है; और उस पुरुष से आत्मा जाने बिना दूसरा कोई कल्याण का उपाय नहीं है; उस पुरुष से आत्मा जाने बिना 'आत्मा जाना है'—ऐसी कल्पना मुमुक्षु जीव को सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।'

'आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग,
अपूर्व वाणी परमश्रुत; सद्गुरु लक्षण योग्य।'

....परम श्रुत....

'सदा दृष्टि तारी विमल निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्ति मांहि दरव-गुण-पर्याय विकसे;
निजालम्बी भावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।'

....अपूर्व वाणी....

'अहो! वाणी तारी प्रशम रस भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;

अनादिनी मूर्च्छा विषतणी त्वरायी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।'

जो जीव आत्मार्थी हो वह क्या करता है ?

'सेवे सद्गुरु चरण ने, त्यागी दई निजपक्ष:
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष।'
'प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार:
त्रणे योग एकत्वथी वर्ते आज्ञाधार।'
'अहो, अहो! श्री सद्गुरु, करुणासिंधु अपार,
आ पामर पर प्रभु कियो अहो! अहो! उपकार।'
'शुं प्रभु चरण कने धरूँ, आत्माथी सौ हीन;
ते तो प्रभुने आपियो वर्तुं चरणाधीन।'
'देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत;
ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणित।'

'जिन सत्पुरुषों ने जन्म, जरा, मरण का नाश करनेवाला स्व-स्वरूप में सहज अवस्थान होने का उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषों को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणा का नित्यप्रति निरंतर स्तवन करने में भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है, ऐसे सर्व सत्पुरुष, उनके चरणारविंद सदैव हृदय में स्थापित रहें।'

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य - ९

भगवान आत्मा की प्रसिद्धि

सर्वज्ञ के निर्णय में सम्यक्पुरुषार्थ

❀ वीर सं० २४७६ भाद्रपद शुक्ला ६ रवि० ❀

धर्म करने के लिये जीव को आत्मा का स्वभाव समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए; उसकी यह बात चल रही है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है; ज्ञान ही उसका स्वरूप है। अवस्था में जो कुछ विकार भाव होते हैं, वे तो मात्र वर्तमान एक समय पर्यंत की योग्यता से, कर्म के निमित्त के कारण होते हैं; मूल वस्तुस्वरूप में वह विकार अथवा नवतत्त्व के भेद नहीं हैं। शुद्धनय द्वारा एकरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अनुभव करने से ज्ञायकस्वभाव एक ही भूतार्थ है, नवतत्त्व अभूतार्थ हैं। 'ज्ञायकवस्तु हूँ'—ऐसा जहाँ अन्तर्दृष्टि से निश्चित किया, वहीं भेद का विकल्प टूटकर, अभेदरूप आत्मा का अनुभव हुआ और वही सम्यग्दर्शन धर्म है।

जैसा वस्तु का मूल स्वभाव है, वैसा परिपूर्ण प्रतीति में ले तो धर्म हो, अथवा उससे विपरीत प्रतीति में लेने से धर्म होगा?—वस्तु के परिपूर्ण स्वभाव को प्रतीति में ले तो उसके आश्रय से धर्म होता है परन्तु यदि अपूर्णता अथवा विकार को ही सम्पूर्ण वस्तु मान ले तो उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। आत्मा के स्वभाव का निर्णय कहो या सर्वज्ञ का निर्णय कहो—दोनों एक ही हैं; क्योंकि आत्मा का स्वभाव है, वही सर्वज्ञ को प्रगट हुआ है और सर्वज्ञ जैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है; दोनों में परमार्थतः कोई अंतर नहीं है। इसलिये आत्मा का पूर्ण स्वभाव पहिचानने पर उसमें सर्वज्ञ की पहिचान भी आ जाती है; और सर्वज्ञ को पहिचाने उसमें आत्मा के स्वभाव की पहचान भी आ जाती है। सर्वज्ञ भगवान ने प्रथम तो अपने पूर्ण ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा की और पश्चात् आत्मा में एकाग्र होकर पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की; उस ज्ञानद्वारा एक समय में भगवान सब कुछ जानते हैं; और जानना वह अपना स्वरूप है, इसलिये उस पूर्णज्ञान के साथ भगवान को पूर्ण स्वाभाविक आनंद भी है, और उनके रागादि दोष बिलकुल नहीं हैं।—ऐसा जहाँ सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय किया, वहाँ अपने में भी अपने रागरहित ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुआ। परिपूर्ण ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, इसके

अतिरिक्त रागमिश्रित विचार आये, वह मेरा-चैतन्य का सच्चा स्वरूप नहीं है। वस्तु का स्वभाव परिपूर्ण ही होता है। जिसप्रकार जड़ में 'अचेतनता' है, उसमें अंशतः भी ज्ञातृत्व नहीं है; जड़ का अचेतन स्वभाव है, इसलिये उसमें अचेतनपना परिपूर्ण है और ज्ञान बिलकुल नहीं है। उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, तो उसमें ज्ञान परिपूर्ण है और अचेतनता बिलकुल नहीं है। राग भी अचेतन के सम्बन्ध से होता है, इसलिये राग भी ज्ञानस्वभाव में नहीं है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय और अनुभव करना ही धर्म का प्रारम्भ है।

'ज्ञायकस्वभाव ही जीव है'—ऐसा कहने से उसमें ज्ञान की पूर्णता ही आती है। पर्याय में अल्पज्ञता हो, वह उसका स्वभाव नहीं है। अवस्था में अल्पज्ञान है किन्तु अवस्था का स्वभाव भी अल्पज्ञानवाला नहीं है। एक समय में परिपूर्ण ज्ञानरूप परिणमित हो—ऐसा अवस्था का स्वभाव है; और अवस्था में अल्पज्ञता के साथ जो रागादिभाव हैं, वह वास्तव में जीव नहीं है, किन्तु अजीव है। राग और अल्पज्ञता रहित एकरूप ज्ञायकभाव ही परमार्थतः जीव है। ऐसे पूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में अल्पज्ञता या राग-द्वेष नहीं रहते, किन्तु पूर्णता ही हो जाती है। प्रथम तो ऐसे पूर्ण आत्मा को श्रद्धा में स्वीकार करने की यह बात है। स्वभाव कहें और फिर उसमें अपूर्णता कहें, तो वह स्वभाव ही नहीं रहता। स्वभाव कभी अपूर्ण नहीं होता, और जो अपूर्ण हो, उसे स्वभाव नहीं कहा जा सकता।

जिसप्रकार लेंडीपीपर के स्वभाव में चौंसठ पुटी चरपराहट शक्तिरूप से भरी हुई है, उसमें से ही वह प्रगट होती है। उसकी चौंसठ पुटी शक्ति का विश्वास करने के पश्चात् उसे घिसकर वह चरपराहट प्रगट करने का विकल्प आता है; कंकरों को घिसने का विकल्प नहीं आता क्योंकि कंकरों में चरपराहट प्रगट होने का स्वभाव नहीं है—ऐसा जाना है। जिसमें जो स्वभाव हो, उसी में से वह प्रगट होता है, संयोग में से नहीं आता। उसीप्रकार आत्मा में ज्ञायकस्वभाव है, वह चौंसठ पुटी चरपराहट की भाँति पूर्ण है। उस पूर्ण ज्ञानस्वभाव को निश्चित करके उसमें एकाग्रतारूपी घिसारा करने से पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है। जहाँ ज्ञान-स्वभाव भरा है, उसमें से ज्ञान प्रगट होता है। किन्हीं संयोगों में से ज्ञान नहीं आता। शरीरादि अचेतन हैं, उनमें से ज्ञान नहीं आता। मैं पर का तो कर्ता नहीं हूँ और नवतत्त्व के विकल्पों का भी मैं कर्ता नहीं हूँ; मैं पूर्ण ज्ञायक हूँ—इसप्रकार अपने अंतरस्वभाव को निश्चित करके उसमें एकाग्र होना, सो धर्म है।

आत्मा के अंतरस्वभाव की दृष्टि करने से उसमें एक ज्ञायकमूर्ति जीव ही भूतार्थरूप से

प्रकाशमान है; नवतत्त्वों के विकल्प उसमें नहीं हैं। साधक को भले ही नवतत्त्वों के विकल्प हों, किन्तु उसकी दृष्टि तो अभेद स्वभाव में ही है और अभेद द्रव्यस्वभाव ही मुख्य है, उस अभेदस्वभाव की ही मुख्यता में उसे ज्ञान की निर्मलता होती जाती है और राग-द्वेष दूर होते जाते हैं; विकल्प होने पर भी अभेदस्वभाव की दृष्टि में तो वह अभूतार्थ ही हैं। इसप्रकार शुद्धनय द्वारा, एकरूप प्रकाशमान शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है, ऐसे शुद्धात्मा की अनुभूति, वह आत्मप्रसिद्धि है और शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि, वह नियम से सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है, बाधारहित है।

कोई कहे कि 'सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में ज्ञात हुआ होगा, उसी समय आत्मा का धर्म होगा, इस समय यह सब समझने का क्या काम है?'—तो ऐसा कहनेवाले की दृष्टि विपरीत है, उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है। ज्ञानी उससे कहते हैं कि—अरे भाई! 'सर्वज्ञ भगवान ने सब कुछ देखा है और उसीप्रकार सब कुछ होता है'—ऐसा सर्वज्ञ के ज्ञान का और वस्तुस्वभाव का निर्णय किसने किया? किस ज्ञान में वह निर्णय किया? जो ज्ञान सर्वज्ञता का और वस्तु के स्वरूप का निर्णय करे, वह ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख हुए बिना न रहे तथा उसे वर्तमान में ही धर्म का प्रारम्भ हो जाये, और सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में भी वैसा ही ज्ञात हुआ होता है।

जिसने आत्मा की पूर्ण ज्ञान सामर्थ्य को प्रतीति में लेकर उसमें एकता की, उसी को वास्तव में सर्वज्ञ के ज्ञान की प्रतीति हुई है। जो राग को अपना स्वरूप मानकर राग का कर्ता होता है, और रागरहित ज्ञानस्वभाव की जिसे श्रद्धा नहीं है, उसे सर्वज्ञ के निर्णय की सच्ची मान्यता नहीं है; इसलिये सर्वज्ञ के निर्णय में ही ज्ञानस्वभाव के निर्णय का सम्यक्-पुरुषार्थ आ जाता है, वही मोक्ष-सन्मुख का पुरुषार्थ है, और वही धर्म है। लोगों को बाह्य धामधूम में ही पुरुषार्थ मालूम होता है, किन्तु अंतर में ज्ञानस्वभाव के निर्णय में ही ज्ञाता-दृष्टापने का सम्यक्-पुरुषार्थ आ जाता है, उसे बहिर्दृष्टि लोग नहीं जानते हैं। वास्तव में ज्ञायकपना ही आत्मा का पुरुषार्थ है, ज्ञायकपने से पृथक् दूसरा कोई सम्यक्-पुरुषार्थ नहीं है।

ज्ञाता जीव है और ज्ञायकभाव आत्मा है—ऐसा सम्यक् निर्णय किया, वही आत्मा की अंतर क्रिया है, वही धार्मिक क्रिया है; किन्तु बाह्य देहदृष्टि से देखनेवाले को वह बात ध्यान में नहीं आती है। अवस्था का बदलना, सो क्रिया है। 'मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ'—ऐसी स्वभाव में दृष्टि करके ज्ञातापन में पलटना, सो धर्म की क्रिया है, और 'मैं विकारी हूँ'—ऐसी विकारी दृष्टि करके कर्तापना में पलटना, सो अधर्म की क्रिया है।

शुद्धनय द्वारा अंतर्दृष्टि से देखने पर आत्मा एक ज्ञायकभावरूप प्रकाशमान भूतार्थ अनुभव में आता है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू अंतर में तो देख, वहाँ छलाछल ज्ञानस्वभाव भरा है। सरोवर में जहाँ पानी भरा हो, वहाँ उछलता है; उसीप्रकार अंतर के चैतन्य सरोवर में परिपूर्ण ज्ञान भरा है, उसमें डुबकी मार तो पर्याय में ज्ञान उछलेगा। कहीं पर सन्मुख देखने से या भेद के विचार से तेरे गुण प्रगट नहीं होंगे; इसलिये उन्हें छोड़कर अंतर के परिपूर्ण स्वभावसन्मुख दृष्टि कर और उसी में एकाग्र होकर अनुभव कर।

जो नवतत्त्वों को न जाने, उसे तो अनुभव में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती, और नवतत्त्व जैसे हैं, उन्हें वैसा जानकर मात्र नवतत्त्व के विकल्प में ही रुके तो उसे भी नवतत्त्व की ही प्रसिद्धि है किन्तु भगवान आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है, अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं है। नवतत्त्व के भेद की दृष्टि छोड़कर चैतन्य ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अनुभव करने से भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है, वह सम्यग्दर्शन है और वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है। यहाँ 'आत्मा की प्रसिद्धि' होना कहा, उसका क्या अर्थ? त्रिकाली आत्मस्वभाव तो प्रसिद्ध ही था, वह कहीं ढँका हुआ नहीं है, किन्तु अवस्था में पहले उसका भान नहीं था और अब उसका भान होने से अवस्था में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई। निर्मल अवस्था प्रगट होने से, द्रव्य-पर्याय की अभेदता से 'आत्मा ही प्रसिद्ध हुआ'—ऐसा कहा है। अनुभव में कहीं द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं है। रागमिश्रित विचार छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही एकाग्र हुआ, उसका नाम आत्मख्याति है। उस आत्मख्याति को यहाँ सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि आत्मख्याति स्वयं तो ज्ञान की पर्याय है, किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी रूप से होता है, इसलिये उस आत्मख्याति को ही यहाँ सम्यग्दर्शन कहा है।

इसप्रकार नवतत्त्वों में भूतार्थरूप से प्रकाशमान एक आत्मा को जानना ही नियम से सम्यग्दर्शन है—ऐसा सिद्ध करके, श्री आचार्यदेव निःशंकतापूर्वक कहते हैं कि यह सर्व कथन निर्दोष है, ऐसा ही वस्तुस्वरूप है और ऐसी ही सम्यग्दर्शन की रीति है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई रीति नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा माने तो वह बाधासहित है। नवतत्त्वों को बराबर न जाने तो वह मिथ्यात्वरूप दोषयुक्त है, और नवतत्त्व के भेद के विकल्प में ही रुका रहे और एकरूप ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति न करे तो वह भी मिथ्यात्वरूप दोषयुक्त है। नवतत्त्वों को जान लेने के पश्चात् ज्ञान, ज्ञायकस्वभाव की एकता में ढले, वही निर्दोष सम्यग्दर्शन है, वही निर्दोष उपाय है।

यहाँ तो आत्मार्थी जीव, नवतत्त्वों को जानकर अंतर के अनुभव में ढल ही जाये, ऐसी बात है, नवतत्त्वों में रुककर लौट आये – ऐसी बात ही नहीं है।

नवतत्त्वों को जाननेवाला कौन है ? नवतत्त्वों को जाननेवाली तो ज्ञान की अवस्था है। कहीं इन्द्रियाँ या राग, नवतत्त्वों को जानने का कार्य नहीं करते; किन्तु ज्ञान की अवस्था ही उन्हें जानने का कार्य करती है। अब यदि, ज्ञान की जो अवस्था है, उस अवस्था ने अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव में एकता का कार्य नहीं किया और बहिर्मुख रहकर भेद के लक्ष से विकल्प में एकता करके रुकी, तो उस ज्ञान अवस्था में धर्म नहीं है; क्योंकि उस ज्ञानपर्याय ने स्वोन्मुख होकर स्वभाव का कार्य नहीं किया, किन्तु परलक्ष से राग में ही रुककर संसार-भाव की उत्पत्ति की। इसलिये ज्ञान की अवस्था में नवतत्त्वों के भेद का भी लक्ष छोड़कर, अभेद आत्मा की दृष्टि करके ज्ञायक का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है। प्रथम तो नवतत्त्वों से चैतन्य का अनुभव करना भी जिसे न आये, वह विकल्प तोड़कर अंतर में चैतन्य का साक्षात् अनुभव किस प्रकार करेगा ? पहले नवतत्त्वों के ज्ञान द्वारा चैतन्यस्वभाव को बुद्धि में ले, पश्चात् उस स्वभाव के निर्णय कों घोंटते-घोंटते विकल्प टूटकर अंतर में एकाग्रता होती है। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर मात्र ज्ञायक का रागरहित अनुभव करना, वह धर्म की निर्दोष क्रिया है।

हे भाई ! यदि तुझे प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय न हो तो अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय कर। अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय किया, वहाँ आत्मा के परिपूर्ण ज्ञातास्वभाव का निर्णय आ जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने से अपने ज्ञातास्वभाव की प्रतीति हुई और पर्याय, ज्ञानशक्ति की ओर ढलकर एकाग्र होने लगी, वही सच्चा पुरुषार्थ है; भले ही उस जीव को पर्याय में ज्ञान की अपूर्णता हो और राग होता हो, तथापि वह जीव, राग का कर्ता नहीं होता; वह तो राग का भी ज्ञायक रहता है। और अल्पज्ञता को वह अपना स्वरूप नहीं मानता; पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी उसकी दृष्टि तो परिपूर्ण ज्ञानमूर्ति स्वभाव में ही है।—ऐसा जीव,साधक है। सर्वज्ञ को परिपूर्ण ज्ञान है और इस साधक सम्यग्दृष्टि को अपूर्ण ज्ञान है—इतना अंतर है, परन्तु यह साधक जीव भी ज्ञान स्वभाव की एकता की दृष्टि में राग का कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञायक ही है। इसप्रकार, ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करने का नाम धर्म है, और वही प्रत्येक आत्मार्थी-मोक्षार्थी जीव का पहला कर्तव्य है।

—इसप्रकार श्री आचार्यदेव ने इस तेरहवीं गाथा में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया है। ●

धर्म की विधि और धर्म के निमित्त

वीर सं० २४७५ के वैशाख कृष्णा ३० के दिन लाठी में
श्री प्रवचनसार गाथा १९४ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन

[२७] जहाँ रुचि वहाँ प्रयत्न

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे आत्मा का सच्चा स्वरूप जानना चाहिए। अनंतकाल से आत्मा का सच्चा स्वरूप जीव ने कभी नहीं जाना। यदि एकबार भी आत्मा का सच्चा स्वरूप जान ले तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे। अनंतकाल से विकार की रुचि से पुण्य-पाप ही किए हैं; कभी भी आत्मस्वभाव की रुचि करके उसे नहीं समझा। जिसमें जिसकी रुचि हो, उसमें उसका वीर्य बारम्बार कार्य करता है। सत्समागम से यथार्थ वस्तुस्वरूप का ख्याल आये बिना सच्ची रुचि नहीं होती, और रुचि के बिना उस वस्तु की ओर ढलने का प्रयत्न भी जीव नहीं करता। आत्मा का सच्चा ज्ञान किये बिना कोई जीव दयादि शुभभाव करे तो उससे पुण्यबंधन होता है किन्तु उसमें धर्म नहीं है।

[२८] धर्म की क्रिया

आत्मा कौन है, आत्मा का स्वभाव क्या है, उसकी खबर न हो और बाह्य क्रिया से धर्म मान ले, वह अज्ञानी है; आत्मा के धर्म की क्रिया कौनसी है, उसका उसे भान नहीं है, इसलिये जड़ की क्रिया में तथा विकारी क्रिया में वह धर्म मानता है। व्रत या यात्रा, दया या भक्ति, दान या तप – इस सब में शुभराग भाव है, वह कहीं धर्म की क्रिया नहीं है; धर्म की क्रिया तो आत्मा के अंतर स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता में है। ऐसी धर्मक्रिया ही मोक्ष का कारण है।

[२९] पूर्णानंद प्रगट करने की विधि

धर्म करनेवाला जीव अपने आत्मा में ज्ञान और आनंद की पूर्णता प्रगट करना चाहता है। तो पूर्व काल में जिन्होंने ज्ञान और आनंद की पूर्णता प्रगट की है-ऐसे आत्मा कौन हैं, उन्हें पहिचानना चाहिए। मैं जो पूर्णता प्रगट करना चाहता हूँ, उसे प्रगट करनेवाला मैं ही पहला नहीं हुआ हूँ, किन्तु अनंत जीव मुझसे पहले उस पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं;—इसप्रकार धर्म करनेवाले को प्रथम पूर्णता को प्राप्त हुए आत्माओं का अर्थात् सर्वज्ञदेव का निर्णय करना चाहिए। मैं अपने आत्मा में

विकार को दूर करके जो पूर्णानन्द प्रगट करना चाहता हूँ, वैसा आनंद प्रगट करनेवाला मैं एक ही नहीं हूँ, किन्तु अभीतक अनंत आत्मा वैसा पूर्ण आनंद प्रगट कर चुके हैं, और वह पूर्णाननद प्रगट करने के लिये प्रयास करनेवाले दूसरे साधक जीव भी हैं,—उनका स्वरूप अर्थात् सद्गुरु के स्वरूप का भी निर्णय करना चाहिए। और उस पूर्णानन्ददशा की प्राप्ति का उपाय बतानेवाली सच्चे देव-गुरु की वाणी भी विद्यमान है—उसका अर्थात् सत्शास्त्रों का स्वरूप भी समझना चाहिए—इसप्रकार 'मुझे पूर्ण आनंद प्रगट करना है'—ऐसी भावना में देव-गुरु-शास्त्र की स्वीकृति आ जाती है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा हुए बिना पूर्ण ज्ञान-आनंददशा प्रगट करने की भावना यथार्थ नहीं होती। जिन्होंने आत्मा की पूर्णता प्रगट की है, वे देव हैं,—ऐसे देव एक नहीं किन्तु अनंत हैं। जो पूर्णता प्रगट करने का यथार्थ प्रयत्न कर रहे हैं, वे गुरु हैं और वैसे देव-गुरु की यथार्थ मोक्षमार्ग का कथन करनेवाली वाणी, सो शास्त्र हैं। पूर्णानन्द प्रगट करने की भावनावाले को ऐसे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान प्रथम करना चाहिए।

अभी तक के अनंतकाल में कालक्रम से अनंत जीव पूर्णानंद को प्राप्त हुए हैं; इस समय भी पंच विदेहक्षेत्र में पूर्णानंद को प्राप्त हुए जीव विचर रहे हैं और भविष्य में भी अनंत जीव पूर्णानंद को प्राप्त करेंगे।—वे सब जीव ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान करके उसमें एकाग्रता से ही पूर्णानंद की प्राप्त हुए हैं; यह एक ही विधि है; दूसरी कोई विधि नहीं है। आत्मा ज्ञानपिण्ड है, उसे ज्ञान द्वारा ही पकड़ा जा सकता है। बीच में अपूर्णदशा में शुभराग आये किन्तु वह धर्म नहीं है; और उस राग द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता। इसप्रकार रागरहित आत्मस्वभाव का सच्चा ज्ञान जिसे नहीं है, उसे तीनकाल में धर्म नहीं होता। प्रथम आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना ही पूर्णानन्दी परमात्मदशा को प्राप्त करने की विधि है।

[३०] केवलज्ञान के निर्णय में सम्यक् पुरुषार्थ

प्रश्न - केवली भगवान ने देखा होगा, तब मोक्ष हो जायेगा; फिर प्रयत्न किसलिये ?

उत्तर - भाई ! मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव, मोक्ष के पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष प्राप्त करेंगे—ऐसा भी भगवान देखा है; पुरुषार्थ के बिना ऐसे ही मोक्ष प्राप्त कर लेंगे—ऐसा कहीं भगवान ने नहीं देखा है। और 'जब भगवान ने देखा होगा, तब मोक्ष होगा'—ऐसे यथार्थ निर्णय में तो आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव का निर्णय भी साथ ही आ गया, और जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुआ, वहाँ मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो गया; इसलिये उसमें मोक्ष का सम्यक् पुरुषार्थ भी आ गया। सम्यक् पुरुषार्थ के बिना केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय नहीं होता।

[३१] धर्म के निमित्त और धर्म की विधि

जिसे अपने आत्मा में धर्म प्रगट करना है, उसका लक्ष, जिनके आत्मा में धर्म प्रगट हुआ हो – ऐसे निमित्त पर जाता है, किन्तु जिसमें धर्म प्रगट न हुआ हो, ऐसे आत्मा को वह अपने धर्म के निमित्तरूप से स्वीकार नहीं करता। आत्मस्वभाव को समझनेवाले का लक्ष कहाँ जाता है ? यद्यपि समझनेवाला तो स्वयं अपने आत्मस्वभाव के लक्ष से ही समझता है, किन्तु सत् के निमित्तरूप से सच्चे देव-गुरु का विचार और बहुमान आये बिना नहीं रहता।

पूर्णदशा प्राप्त करके मुक्त हो जानेवाले जीव कोई पूर्वकाल में हो गये हैं, कोई इस समय हो रहे हैं, और कोई भविष्य में होंगे। पूर्णता प्राप्त करनेवाले और उसके साधक अनादिकाल से होते ही आ रहे हैं और उनकी वाणीरूप शास्त्र भी प्रवाहरूप से अनादिकालीन हैं। इसप्रकार धर्म करनेवाले को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय हो जाना चाहिए; तथापि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष से भी धर्म नहीं हो जाता; किन्तु धर्म तो अंतरस्वभाव के ही आश्रय से होता है। धर्म कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु अंतर की दशा में है; इसलिये धर्म बाह्य लक्ष से नहीं होता, किन्तु अंतरस्वभाव का निर्णय करके उसके लक्षपूर्वक एकाग्रता से ही धर्म होता है।—यही धर्म की विधि है।

[३२] सर्वज्ञ परमात्मा और वाणी का योग

पूर्ण ज्ञान-आनंददशा को प्राप्त जीव भी दो प्रकार के होते हैं—एक देहमुक्त और दूसरे जीवन्मुक्त। उनमें जो देहमुक्त हो गये, वे तो 'सिद्ध भगवान' हैं और जो परमात्मा, देहसहित विचर रहे हैं, वे 'अरहंत भगवान' हैं। उन अरहंतों में अनेकों को वाणी का योग होता है और अनेकों के नहीं भी होता। किन्तु जो तीर्थंकर हों, उन्हें तो नियम से वाणी का योग होता ही है। सर्वज्ञ परमात्मदशा प्रगट हो जाने के पश्चात् शरीर या वाणी का सम्बन्ध होता ही नहीं—ऐसा एकान्त नहीं है। इसलिये, किसी भी सर्वज्ञ को वाणी नहीं ही होती, ऐसा नहीं है, किन्तु किन्हीं-किन्हीं सर्वज्ञों को वाणी का योग होता है। यदि किसी भी सर्वज्ञ को वाणी का योग बिलकुल नहीं हो तो उनकी सर्वज्ञता को दूसरे जीव कैसे जाने ? तथा सर्वज्ञदेव के ज्ञान में वस्तु स्वरूप कैसा ज्ञात हुआ है, उसकी खबर वाणी के बिना दूसरे जीवों को कैसे पड़ेगी ? और तीर्थ की प्रवृत्ति कैसे होगी ?—और ऐसा होने से तो सर्वज्ञादि का निर्णय ही नहीं हो सकेगा। और देव-गुरु-शास्त्र के निर्णय बिना अंतर के स्वभाव का सच्चा ज्ञान भी नहीं होगा। सच्चे निमित्त कौन हैं, कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं, और उनका कहा हुआ वस्तुस्वरूप क्या है—इसकी नि:शंकता के बिना आत्मवीर्य अंतर में नहीं ढलेगा।

[३३] निमित्तों का विवेक

कोई कहे कि झूठे निमित्तों की मान्यता थी और हमारा कल्याण हो गया—तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यद्यपि निमित्त से तो कुछ भी लाभ-हानि नहीं होते, तथापि सच्चे ज्ञान में कैसे निमित्त होते हैं और कैसे नहीं होते—उसका विवेक किये बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। पुरुष की प्रमाणता का निर्णय किये बिना चाहे जिसके, चाहे जैसे उपदेश को सच्चा मान ले उसे तो अभी सच्चे-झूठे निमित्त का भी विवेक नहीं है, तब फिर निमित्त से पार अंतर स्वभाव का निर्णय करने की शक्ति उसमें कहाँ से आयेगी ?—अभी जो आँगन तक भी नहीं आया, वह आँगन का अभाव करके घर में कैसे प्रवेश करेगा ?

[३४] पुरुष की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता

पुरुष की प्रमाणता से उसके वचनों को प्रमाणता होती है। पूर्ण पुरुष को पहिचानने के पश्चात् उसके वचनों को प्रमाण जानकर, उनमें कहे हुए वस्तुस्वरूप को धर्मी जीव समझ जाते हैं। यदि पुरुष की प्रमाणता न हो तो वाणी भी प्रमाणरूप नहीं है, और जिसके निमित्तरूप से प्रमाणभूत वाणी नहीं है, उसे अपने नैमित्तिकभाव में भी ज्ञान की प्रमाणता नहीं है। प्रमाणज्ञान में निमित्तरूप से प्रमाणरूप वाणी ही होती है, अर्थात् सत् समझने में ज्ञानी की ही वाणी निमित्त होती है; अज्ञानी की वाणी निमित्त नहीं होती। सर्वज्ञ पुरुष को पहिचाने बिना उसके वचनों की प्रमाणता समझ में नहीं आती और उसके बिना आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसलिये सर्व प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय अवश्य करना चाहिए।

[३५] धर्म का प्रारम्भ कैसे होता है ?

अहो, जगत के जीवों ने आत्मा की बात को अपनी मानकर अनंतकाल में कभी नहीं सुनी; धर्म के बहाने पर के अहंकार में रुका है, और अधिक तो शुभभाव को ही धर्म मानकर संतुष्ट हो गया है, किन्तु जिसके आधार से धर्म होता है—ऐसे आत्मस्वभाव को कभी नहीं समझा। व्रतादि का शुभविकल्प उठता है—उसे जो धर्म माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है। वस्त्र का त्याग करने से या उच्च आसन पर बैठ जाने से या धर्मक्षेत्र में ठहरने से कहीं आत्मकल्याण नहीं हो जाता। अंतर में त्रिकाल शुद्ध आत्मा कैसा है और वह कैसे प्रगट हो ?—इसके भान बिना धर्म नहीं होता। क्षणिक पुण्य-पाप रहित, आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसमें पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भरा है—उसे पहिचानने से

धर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसी पहिचान करने के लिये प्रथम तो जिनके पूर्ण ज्ञान सामर्थ्य विकसित हो गया है—ऐसे सर्वज्ञदेव का स्वरूप जानना चाहिए।

[३६] सर्वज्ञ कहाँ है और कैसे होते हैं ?

आजकल इस भरतक्षेत्र में कोई सर्वज्ञ नहीं विचरते, तो इस जगत में दूसरा कौनसा क्षेत्र है, जहाँ सर्वज्ञ विचर रहे हों ? इस समय इस पृथ्वी पर विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान आदि बीस तीर्थंकर और अनेक केवली भगवंत सर्वज्ञरूप से विचर रहे हैं। इसलिये सर्वज्ञ का निर्णय करने से विदेहादिक्षेत्र भी निश्चित हो जाते हैं। उन सर्वज्ञ पुरुष के ज्ञान से बाहर कुछ नहीं होता, उनके राग-द्वेष नहीं होते, वे संसार के जीवों का कुछ नहीं करते; और न तो वे सर्वज्ञ पुरुष आहार लेते हैं, न स्त्री रखते हैं, न शस्त्र या वस्त्र रखते हैं, न उन्हें रोग होता है, न वे पृथ्वी पर चलते हैं किन्तु आकाश में विचरते हैं; उनके क्रमिक भाषा नहीं होती किन्तु निरक्षरी दिव्यध्वनि होती है, वे किसी को वंदन नहीं करते।—ऐसे पूर्ण ज्ञानी आत्मा को जाने बिना यथार्थ रूप से पूर्णता की भावना नहीं होती। धर्म द्वारा जो पूर्ण पद अपने को प्राप्त करना है, उसका स्वरूप तो जानना चाहिए न ? और वह पूर्ण पद प्रगट होने की शक्ति अपने स्वभाव में नित्य है, उसे जाने तो धर्म का प्रारम्भ हो।

[३७] सर्वज्ञ भगवान कथित अनेकान्त

सर्वज्ञ भगवान ने उपदेश में क्या कहा ? सर्वज्ञ भगवान ने उपदेश में अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप बतलाया। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है, इसलिये प्रत्येक तत्त्व, स्वरूप स्वयं अपने से परिपूर्ण है। अब, आत्मा की क्षणपर्यंत की दशा में विकार है। त्रिकाली स्वभाव में वह विकार नहीं है, इसलिये उसमें भी अनेकान्त हो गया कि विकार में त्रिकाल नहीं है और त्रिकाल में विकार नहीं है। ऐसा अनेकान्त स्वभाव न बतलायें और शुभाशुभ विकार को आत्मा का स्वरूप मनाएँ-हितकर मनाएँ, वे कोई देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं हैं। त्रिकाली स्वभाव में एक क्षण का भी विकार नहीं है और अवस्था में एक क्षण का विकार है, उसमें त्रिकाली स्वभाव नहीं है—ऐसे अनेकान्त को जानकर त्रिकाली स्वभाव की ओर ढलने से कल्याण होता है। इसमें निश्चय और व्यवहार, हित-अहित आदि बहुत कुछ रहस्य आ जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय किया, वह व्यवहार है और आत्मस्वभावोन्मुख हुआ, वह निश्चय है।

[३८] काहे में प्रवृत्ति करने से आत्मा को शुद्धता होती है ?

आचार्यदेव कहते हैं कि—'इस यथोक्त विधि द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे

उसी में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है।' जो शुद्ध आत्मा को ध्रुव जानता है उसी को उसमें प्रवृत्ति से शुद्धता होती है, किन्तु जो शुद्धात्मा को नहीं जानता, उसे शुद्धता नहीं होती; इसलिये एक जीव शुद्धात्मा को जाने, वहाँ सभी को ज्ञात हो जाये-ऐसा नहीं है; और एक जीव शुद्ध होने से सभी जीव शुद्ध हो जायें-ऐसा नहीं होता। प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, उसमें अपनी योग्यता से जो जीव शुद्धात्मा को समझता है, उसी को शुद्धता होती है। शुद्धता कैसे होती है ?—कि शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करे तो। शुद्धात्मा में प्रवृत्ति कब होती है ?—शुद्धात्मा को जाने तब। किसी बाह्य प्रवृत्ति से या राग में प्रवृत्ति से आत्मा को शुद्धता नहीं होती, किन्तु शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति से ही आत्मा को शुद्धता होती है।

[३९] सच्चा वर्तन

प्रथम तो यथोक्त विधि से शुद्ध आत्मा का ज्ञान करने की ही बात की, वह ज्ञान करे उसी के सच्चा वर्तन होता है। जिससे धर्म हो-शुद्धता हो-वह वर्तन कहीं बाहर का नहीं है किन्तु भीतर शुद्ध आत्मा में एकाग्रता, वह वर्तन है। पहले जब शुद्धात्मा को नहीं जाना था, तब राग-द्वेष को अपना मानता था, पराश्रयरूप व्यवहार से लाभ मानता था; इसलिये उस राग-द्वेष में ही प्रवृत्ति द्वारा वर्तन में विकार की उग्रता आती थी; अब शुद्धात्मा को जानने से उस मान्यता का छेदन हो गया और निःशंकतया भान हुआ कि राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ध्रुव शुद्ध आत्मा हूँ-ऐसा भान होने से धर्मी को विकार में वर्तन की उग्रता नहीं रही किन्तु शुद्धात्मा में वर्तन की मुख्यता हुई, इसे स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं; सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ ऐसा चारित्र प्रगट हुआ, वह प्रथम धर्म है।

[४०] वस्तु का अनेकान्त स्वरूप : कथंचित् गुणभेद, कथंचित् अभेद

यदि वस्तु को सर्वथा अभेद या सर्वथा नित्य ही माने तो उसे यह बात नहीं रहती, अर्थात् अवस्था में राग के समय स्वभावोन्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा करना उसे नहीं रहता। यदि वस्तु में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आदि गुणों में कथंचित् गुणभेद न हो तो चारित्रगुण की विकारी पर्याय के समय ही श्रद्धा-ज्ञान की पर्याय शुद्ध स्वभावोन्मुख न हो सके। किन्तु वस्तु में कथंचित् गुण-भेद भी है, इसलिये चारित्रगुण की अशुद्धता के समय भी श्रद्धा-ज्ञान की पर्याय शुद्ध स्वभावोन्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होते हैं; अवस्था में राग होने पर भी शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान हो सकते हैं। यदि वस्तु में गुण-भेद न हो तो साधकपना संभव नहीं होता। इसप्रकार गुण-भेद होने पर भी वस्तुरूप से गुण अभेद हैं, इसलिये वस्तु के परिणमित होने पर सभी गुण एक साथ परिणमित होते हैं। श्रद्धा-ज्ञान की पर्याय स्वोन्मुख होने से चारित्रगुण का अंश भी स्वभावोन्मुख होता है। श्रद्धा

और ज्ञान सम्यक् हों और उस समय चारित्र में बिल्कुल शुद्धता न हो–ऐसा नहीं हो सकता; सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान के साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र हो जाता है। यदि एकान्त गुण–भेद हो तो वैसा नहीं हो सकता, और यदि एकान्त अभेदपना ही हो तो साधकपना और चौदह गुणस्थान नहीं बन सकते। वस्तु में कथंचित् गुणभेद है, और कथंचित् अभेद है; इसप्रकार वस्तु अनेकान्त स्वभावी है। स्वाश्रयी दृष्टि होते ही वस्तु के समस्त गुणों का एक साथ अंशतः व्यक्त–कार्य रूप होता है, क्योंकि वस्तु एक ही परिणमित होती है। तथापि श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रादि गुणों के विकास में क्रम पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न–भिन्न है। यदि श्रद्धा–ज्ञान स्वोन्मुख हों और चारित्र बिल्कुल स्वोन्मुख न हो तो सर्वथा गुणभेद हो जाता है; और यदि सम्यक् श्रद्धा होने से उसी के साथ ज्ञान–चारित्र भी पूर्ण हो जाएँ तो गुण–भेद का सर्वथा अभाव होता है।—इन दोनों में वस्तु का स्वभाव सिद्ध नहीं होता। इसलिये आत्मा का स्वरूप अनेकान्तमय है।—ऐसा आत्मस्वरूप बतलानेवाले देव, गुरु, शास्त्र कैसे होते हैं, वह जानना चाहिए।

[४१] शुद्धात्मा में प्रवृत्ति ही कल्याण का उपाय है

आत्मा, शरीर से तो पृथक् है। जिसे कल्याण करना है, उसे आत्मा का कल्याण करना है, कहीं इस जड़ शरीर का कल्याण नहीं करना है; क्योंकि कल्याण तो आत्मा में होता है, कहीं जड़ शरीर में कल्याण नहीं होता। जड़ शरीर से तो आत्मा पृथक् है। ऐसे आत्मा का कल्याण (हित, सुख, धर्म) करने के लिये उस आत्मा का मूलस्वरूप क्या है, वह जानना चाहिए। आत्मा स्वयं–सिद्ध अनंत गुणों का पिण्ड है, उसमें अनंत गुण हैं, उसमें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रादि मुख्य गुण हैं। राग होता है, वह चारित्रगुण की एक समय की विकारी पर्याय है। जिस समय राग की होता है, उसी समय 'राग मैं नहीं हूँ—ज्ञानस्वभाव, वह मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति कौन करता है? राग में स्वयं में रागरहित स्वभाव को स्वीकार करने का सामर्थ्य नहीं है। राग तो चारित्र का दोष है, इसलिये उस राग के समय रागरहित स्वभाव की प्रतीति करनेवाला चारित्र से पृथक् गुण होना चाहिए। वह श्रद्धागुण है। वह श्रद्धा द्वारा चारित्र के क्षणिक विकार को ही आत्मा का स्वरूप स्वीकार न करके त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर शुद्ध आत्मा की प्रतीति करता है; ज्ञानगुण स्वोन्मुख होकर शुद्ध आत्मा को जानता है, और उसी समय चारित्रगुण का अंश भी स्वोन्मुख हुए बिना नहीं रहता। इसप्रकार शुद्ध आत्मा को जानकर उसी में प्रवृत्ति से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धात्मपना होता है और वही कल्याण का तथा मोह का नाश करने का उपाय है।

श्री सनातन जैन शिक्षण-वर्ग

ग्रीष्मावकाश में विद्यार्थियों के लिये ता: ११-५-५१ वैशाख शुक्ला पंचमी से ता: ४-६-५१ ज्येष्ठ कृष्णा ३० तक सोनगढ़ में श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर की ओर से जैनदर्शन शिक्षणवर्ग खोला गया था। सं. १९९७ से लेकर प्रतिवर्ष सोनगढ़ में ऐसा शिक्षणवर्ग खोला जाता है। बीच में तीन बार पूज्य श्री स्वामीजी विहार में थे, इसलिये यह शिक्षण वर्ग बन्द रहा था; इसप्रकार शिक्षणवर्ग का यह आठवाँ वर्ष था। इस वर्ग में आये हुए विद्यार्थियों को श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका का प्रथम अध्याय तथा छहढाला की प्रथम दो ढालें सिखलाई गई थीं। ता: २-६-५१ के दिन वर्ग की लिखित परीक्षा ली गई थी, और विद्यार्थियों को करीब १५०/- रु. की पुस्तकें पारितोषिक रूप में बाँटी गई थीं। उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियों को श्री जैन स्वाध्यामंदिर की ओर से सर्टिफिकेट दिये गये थे। परीक्षा में विद्यार्थियों से पूछे गये प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिये जा रहे हैं :—

प्रश्न १ : निम्न किसी भी एक विषय पर लगभग २० लाइन का निबंध लिखा—

(१) संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव किस कारण अनंत दु:ख भोगता है ?

(२) पुण्य और धर्म [उपरोक्त प्रश्नों के उत्तररूप प्राप्त हुए निबंध इसी अंक में अन्यत्र छपे हैं, वहाँ से पढ़ लेना।]

प्रश्न २ : (क) सात तत्त्वों के नाम लिखकर आस्रव और निर्जरातत्त्व के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि क्या भूल करता है, वह लिखो।

(ख) आत्मा का स्वरूप सुखरूप है और उसे समझना सरल है, तथापि उसे समझना कठिन और कष्टदायक कौन मानता है ? और वह कौन-से तत्त्व की भूल करता है ?

(ग) शरीर को अनुकूलता-प्रतिकूलता मिलने से मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ—ऐसा कौन मानता है और वह किस तत्त्व की भूल करता है ?

उत्तर २ : (क) जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष यह सात तत्त्व हैं। उनमें मिथ्यादृष्टि जीव आस्रवतत्त्व के सम्बन्ध में यह भूल करता है कि मिथ्यात्व और राग-द्वेषादि

आस्रवभाव प्रगटरूप से दुःख देनेवाले होने पर भी उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन करता है। पुण्य आस्रवरूप है, तथापि वह उसे धर्म का कारण मानता है। तथा आत्मभानपूर्वक इच्छा का निरोध, सो तप है, उससे निर्जरा होती है; वह सुखरूप होने पर भी अज्ञानी उसे क्लेशरूप मानता है और पाँच इन्द्रिय विषयों में प्रीति करता है;–यह निर्जरातत्त्व की भूल है।

(ख) आत्मा का स्वरूप समझना सरल और सुखरूप होने पर भी अज्ञानी उसे कठिन तथा दुःखरूप मानता है; उसमें वह संवरतत्त्व की भूल करता है।

(ग) शरीर को अनुकूलता होने से 'मैं सुखी हूँ' और प्रतिकूलता होने से 'मैं दुःखी हूँ—ऐसा अज्ञानी जीव मानता है और वह जीवतत्त्व की भूल करता है; क्योंकि जीव तो चैतन्यमय अमूर्तिक है, वह देह से पृथक् है, उसे वह नहीं जानता।

प्रश्न : ३ (क) पर्याय की व्याख्या लिखो, और उसके कौन-से चार प्रकार हैं, वह भी लिखो।

(ख) उन चार प्रकारों में से (१) संसारी रागी जीव को, (२) अरिहंत भगवान को तथा (३) एक स्वतंत्र परमाणु के कौन-कौन-सी पर्यायें होती हैं ?

(ग) महावीर भगवान की पर्यायों की सीमंधरनाथ भगवान तथा ऋषभदेव भगवान की पर्यायों के साथ तुलना करो ?

उत्तर : ३ (क) गुण के विकार को (विशेष कार्य को) पर्याय कहते हैं। पर्याय के चार प्रकार हैं :—१- स्वभावअर्थपर्याय; २- विभावअर्थपर्याय; ३-स्वभावव्यंजनपर्याय और ४- विभावव्यंजनपर्याय।

(ख) संसारी अज्ञानी जीव के विभावअर्थपर्याय तथा विभावव्यंजनपर्याय होती है।

अरिहंत भगवान के स्वभावअर्थपर्याय, विभावअर्थपर्याय तथा विभावव्यंजनपर्याय होती है।

एक स्वतंत्र परमाणु के स्वभावअर्थपर्याय और स्वभावव्यंजनपर्याय होती है।

(ग) महावीर भगवान सिद्ध हैं, उनके स्वभावअर्थपर्याय तथा स्वभावव्यंजनपर्याय है। सीमंधर भगवान अरिहंत हैं, उनके ज्ञानादि गुण की स्वभावअर्थपर्याय है, वह तो महावीर भगवान जैसी ही है, किन्तु उनके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, वैभाविक, योग, ऊर्ध्वगमनत्व, अव्याबाधादि चार प्रतिजीवी गुणों आदि गुणों की विभावअर्थपर्यायें भी हैं, तथा विभावव्यंजनपर्याय है। महावीर भगवान के अब विभावपर्यायें नहीं हैं।

महावीर भगवान और ऋषभदेव भगवान – इन दोनों की स्वभावअर्थपर्यायें तो समान ही हैं, किन्तु उनकी स्वभावव्यंजनपर्याय की आकृति में इतना अंतर है कि महावीर भगवान की आकृति छोटी है और ऋषभदेव भगवान की आकृति बड़ी है।

प्रश्न : ४ (क) वर्तमान काल में इस भरतक्षेत्र में जन्मे हुए जीवों के कौन-कौन से शरीर अखण्ड प्रवाहरूप से रहे हैं ?

(ख) माता के शरीर में आये हुए जीव के कौन से शरीर उत्पन्न नहीं होते ?

(ग) गृहीत और अगृहीत मिथ्यादर्शन में क्या अंतर है ?

उत्तर : ४ (क) वर्तमान काल में इस भरतक्षेत्र में जन्मे हुए जीवों के कार्मण और तैजस—यह दो शरीर अखण्ड रहे हैं।

(ख) माता के उदर में आये हुए जीव के कार्मण और तैजस—यह दो शरीर नवीन उत्पन्न नहीं होते; तथा आहारक और वैक्रियिक शरीर भी उत्पन्न नहीं होते।

(ग) गृहीत मिथ्यादर्शन तो कुगुरु आदि के उपदेश से, जन्म लेने के पश्चात् नवीन ग्रहण किया है, और अगृहीत मिथ्यादर्शन किसी उपदेश के बिना अनादि चला आ रहा है। गृहीत मिथ्यादर्शन तो जीव ने पहले छोड़ा भी है किन्तु अगृहीत मिथ्यादर्शन अज्ञानी जीव ने कभी नहीं छोड़ा। गृहीत मिथ्यादर्शन छूटने पर भी अगृहीत मिथ्यादर्शन रह जाता है; जिसके अगृहीत मिथ्यादर्शन छूटे, उसके गृहीत मिथ्यादर्शन भी छूट ही जाता है। एकबार भी यदि अगृहीत मिथ्यादर्शन छोड़ दे तो जीव की मुक्ति हुए बिना न रहे। अपने आत्मा के स्वभाव संबंधी भूल, सो अगृहीत मिथ्यादर्शन है और देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप सम्बन्धी भूल, सो गृहीत मिथ्यादर्शन है।

प्रश्न : ५ निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर लिखकर उनके कारण बतलाओ—

(१) पैसे द्वारा धर्म होता है ?

(२) सिद्ध परमात्मा के आकार होता है ?

(३) आकाश के टुकड़े हो सकते हैं ?

(४) धर्मास्तिकाय गति कर सकता है ?

(५) तुम क्षमा कर सकते हो ?

(६) अलोकाकाश में परिणमन होता है ?

उत्तर : ५ (१) पैसे द्वारा धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि पैसा तो जड़ है और धर्म तो आत्मा की शुद्धपर्याय है।

(२) सिद्ध परमात्मा के आकार होता है; क्योंकि उनमें प्रदेशत्त्वगुण है; प्रदेशत्त्वगुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है।

(३) आकाश के टुकड़े नहीं हो सकते; क्योंकि वह सर्वव्यापी एक अखण्ड द्रव्य है।

(४) धर्मास्तिकाय स्वयं गति नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें वैसी क्रियावतीशक्ति नहीं है। गति तो जीव और पुद्गल-यह दो द्रव्य ही कर सकते हैं। वह गति करने में द्रव्यों को धर्मास्तिकाय निमित्त हो- ऐसा गतिहेतुत्त्व गुण उसमें है, किन्तु वह स्वयं तो सदैव स्थिर ही रहता है।

(५) आत्मा क्षमा कर सकता है, क्योंकि उसमें चारित्र नाम का गुण है।

(६) अलोकाकाश के भी परिणमन होता है, क्योंकि आकाश में द्रव्यत्त्वगुण है; इसलिये उसकी अवस्था सदैव बदलती रहती है।

प्रश्न : ६ (१) एक भाई ने कहा कि—'श्रीगुरु को इच्छा हुई और उनके मुख से वाणी निकली, उसका श्रवण करके मेरा मिथ्याज्ञान दूर होकर मुझे सम्यग्ज्ञान हुआ और भविश्य में उग्र पुरुषार्थ करके मैं केवलज्ञान प्राप्त करूँगा।'

ऊपर के वाक्य में से निम्नांकित बोलों के बीच चार प्रकार के अभाव में से कौन-सा अभाव लागू होता है, वह लिखकर उसका कारण बतलाओ—

(१) श्रीगुरु की इच्छा और वाणी।

(२) मुख और वाणी।

(३) उनकी वाणी और मेरा सम्यग्ज्ञान।

(४) मेरा सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान।

(५) मेरा सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञान।

उत्तर : ६ (१) (१) श्रीगुरु की इच्छा और वाणी के बीच अत्यंत अभाव है; क्योंकि इच्छा जीव की पर्याय है और वाणी, वह अजीव की पर्याय है; जीव और अजीव की पर्याय का एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है।

(२) मुख और वाणी के बीच अन्योन्य अभाव है; क्योंकि वे दोनों पुद्गल की पर्यायें हैं। एक पुद्गल की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल की वर्तमान पर्याय में अभाव हो, उसे अन्योन्य अभाव कहते हैं।

(३) श्रीगुरु की वाणी और मेरे सम्यग्ज्ञान के बीच अत्यंत अभाव है; क्योंकि वाणी जड़ की पर्याय है और सम्यग्ज्ञान आत्मा की पर्याय है। जड़ और चेतन की पर्यायों का एक-दूसरे में अत्यंत अभाव है।

(४) मेरी सम्यग्ज्ञानरूप वर्तमान पर्याय का पूर्व की मिथ्याज्ञान पर्याय में अभाव, वह प्राक् अभाव है; क्योंकि एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसकी पूर्व पर्याय में अभाव, वह प्राक् अभाव है।

(५) मेरी वर्तमान सम्यग्ज्ञान पर्याय का भविष्य की केवलज्ञान पर्याय में अभाव है, वह प्रध्वंस अभाव है; क्योंकि एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का, उसकी भविष्य की पर्याय में अभाव, वह प्रध्वंस अभाव है।

प्रश्न : ६ (२) (१) भाषावर्गणा और वाणी (शब्दों) में, तथा

(२) मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाओ ?

उत्तर : ६ (२) (१) भाषावर्गणा और वाणी-वे दोनों पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं; जब भाषावर्गणा बदलकर वाणी होती है, तब उस पुद्गल में वाणीरूप पर्याय का उत्पाद होता है, पूर्व की भाषा वर्गणारूप पर्याय का व्यय होता है और पुद्गल ध्रुवरूप रहता है।

(२) मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान—यह दोनों, जीव के ज्ञानगुण की पर्यायें हैं, जब मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, तब ज्ञानगुण में सम्यग्ज्ञान पर्याय का उत्पाद होता है, पूर्व की मिथ्याज्ञान पर्याय का व्यय होता है और ज्ञानगुण ध्रुवरूप से रहता है।

प्रश्न : ७ निम्नलिखित पदार्थों में से द्रव्य, गुण, पर्याय को पहिचानो, तथा उनमें जो द्रव्य हो, उसका विशेष गुण लिखो; जो गुण हो, वह किस द्रव्य का—कैसी जाति का गुण है, वह लिखो, और जो पर्याय हो, वह किस द्रव्य की, किस गुण की कैसी (विकारी या अविकारी) पर्याय है, वह बतलाओ।

(१) खट्टापन (२) सम्यग्दर्शन (३) रात्रि (४) बुखार (५) स्थिति हेतुत्व (६) कालाणु (७) मृगजल (८) केवलज्ञान (९) समुद्घात (१०) दर्पण में दिखलाई देने वाला अग्नि की ज्वाला का प्रतिबिंब।

उत्तर : ७ (१) खट्टापन, पर्याय है—पुद्गलद्रव्य के रसगुण की (विकारी)

(२) सम्यग्दर्शन, पर्याय है—जीव द्रव्य के श्रद्धागुण की (अविकारी)

(३) रात्रि, पर्याय है—कालद्रव्य की व्यवहार पर्याय। (काल द्रव्य की पर्याय में विकारी या अविकारी ऐसे भेद नहीं पड़ते)।

(४) बुखार, पर्याय है—पुद्गलद्रव्य के स्पर्श गुण की। (विकारी)

(५) स्थितिहेतुत्त्व गुण है—अधर्मास्तिकाय द्रव्य का विशेष गुण।

(६) कालाणु, द्रव्य है—परिणमन हेतुत्त्व उसका विशेष गुण है।

(७) मृगजल, पर्याय है—पुद्गलद्रव्य के रंग गुण की। (विकारी)

(८) केवलज्ञान, पर्याय है—जीवद्रव्य के ज्ञानगुण की। (अविकारी)

(९) समुद्घात, पर्याय है—जीवद्रव्य के प्रदेशत्वगुण की। (विकारी)

(१०) दर्पण में दिखलाई देनेवाला अग्नि की ज्वाला का प्रतिबिंब, पर्याय है—पुद्गलद्रव्य के रंग गुण की। (विकारी)

परीक्षा में ८० से अधिक नम्बर लेने वाले छह विद्यार्थियों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) शाह जगदीशचंद्र नवलचंद बम्बई	नंबर	९४
(२) वसाणी हसमुखलाल वेलसीभाई राणपुर	नंबर	८९
(३) शाह वसंतराय मगनलाल बरवाळा	नंबर	८६
(४) शाह राजेन्द्र प्रेमचंद्र सूरत	नंबर	८६
(५) शाह अनिलकुमार हिंमतलाल भावनगर	नंबर	८६
(६) शाह भाईलाल ईश्वरलाल महसाणा	नंबर	८५

प्रत्येक द्रव्य की स्वकाललब्धि

श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की २१७ वीं गाथा में कहते हैं कि—सर्व द्रव्यों में परिणमित होने की शक्ति स्वभावभूत है, अन्य द्रव्य निमित्तमात्र हैं—

णियणियपरिणामाणं णियणियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिरदव्वं णिमित्तमत्तं वियाणेह॥२१७॥

अर्थ—सर्व द्रव्य अपने-अपने परिणामों के उपादानकारण हैं; जो अन्य बाह्य द्रव्य हैं, वे अन्य के निमित्तमात्र है—ऐसा जानो।

भावार्थ—जैसे घटादिक का उपादानकारण मिट्टी है और चाक, दण्ड आदि निमित्तकारण हैं; उसी प्रकार सर्व द्रव्य अपनी पर्यायों के उपादानकारण हैं और कालद्रव्य, निमित्तकारण हैं।

द्रव्यों के स्वभावभूत अनेक शक्तियाँ हैं, उनका कौन निषेध कर सकता है ?-अर्थात् कोई उनका निषेध नहीं कर सकता—ऐसा कहते हैं:—

कालाइलद्धिजुत्ता, णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं, ण सक्कदे को वारेदुं॥२१९॥

अर्थ - समस्त पदार्थ काल आदि लब्धिसहित और अनेक शक्तियों से संयुक्त हैं और स्वयं परिणमित होते हैं; उनका परिणमन रोकने में कोई समर्थ नहीं है।

भावार्थ - सर्व द्रव्य अपने-अपने परिणामरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल सामग्री को प्राप्त करके स्वयं ही भावरूप परिणमित होते हैं, उन्हें कोई नहीं रोक सकता।

और २४४ वीं गाथा में कहते हैं कि-

सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाईलद्धीए, अणाइणि हणम्मि दव्वम्मि॥२४४॥

अर्थ -अनादि-निधन द्रव्यों में काल आदि लब्धि से सर्व अविद्यमान पर्यायों की ही उत्पत्ति है।

भावार्थ - अनादि-निधन द्रव्य में कालादि लब्धि से पर्यायें अविद्यमान उत्पन्न होती हैं। ऐसा नहीं है कि—''सर्व पर्यायें एक ही समय विद्यमान हों। और वे ढँकती प्रगट होती होती जाती हैं।'' परन्तु प्रतिसमय क्रमशः नवीन-नवीन पर्यायें ही उत्पन्न होती हैं। द्रव्य त्रिकालवर्ती सर्व पर्यायों का समुदाय है, काल भेद से क्रमशः पर्यायें होती हैं।

प्रत्येक द्रव्य को अपनी पर्याय की काललब्धि होती है। प्रत्येक द्रव्य में उस-उस समय की जो पर्याय है, वही उसकी स्वकाललब्धि है। द्रव्य अपनी स्वकाललब्धि अनुसार स्वयं परिणमित होता है, उसकी स्वकाललब्धि से होनेवाली पर्यायों को आगे-पीछे परिवर्तित करने के लिये कोई समर्थ नहीं है।—ऐसा वस्तुस्वरूप उपरोक्त गाथाओं में स्पष्टरूप से बतलाया है, इसलिये वे गाथाएँ यहाँ दी हैं।

आत्मज्ञ सो शास्त्रज्ञ

यः आत्मानं जानाति अशुचिशरीरान् तत्त्वतः भिन्नं।
ज्ञायकरूपस्वरूपं सः शास्त्रं जानाति सव्वं॥४६३॥

अर्थ - जो मुनि (जो जीव) अपने आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वतः भिन्न, ज्ञायकरूप स्वरूप जानता है, वह सर्व शास्त्रों को जानता है।

भावार्थ - जो मुनि (जो जीव) शास्त्राभ्यास तो अल्प ही करता है, परन्तु अपने आत्मा का रूप ज्ञायक, देखने-जाननेवाला, इस अशुचि शरीर से भिन्न है-ऐसा शुद्धोपयोगरूप होकर जानता है तो वह समस्त शास्त्रों को जानता है। यदि अपना स्वरूप नहीं जाना और अनेक शास्त्र पढ़ लिये तो उससे क्या साध्य है ?

यः न अपि जानाति आत्मानं ज्ञानस्वरूपं शरीरतः भिन्नं।
सः न जानाति शास्त्रं आगमपाठं कुर्वन अपि॥४६४॥

अर्थ - जो मुनि (जो जीव) अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप और शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह आगम का पाठ करता हो, तथापि शास्त्रों को नहीं जानता।

भावार्थ - जो मुनि (जो जीव) शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानता, वह अनेक शास्त्र पढ़ा हो, तथापि अनपढ़ ही है। शास्त्रों को पढ़ने का सार तो अपना स्वरूप जानकर राग-द्वेष रहित होना था; यदि शास्त्र पढ़कर भी वैसा नहीं हुआ तो उसने क्या पढ़ा ? अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना, वह निश्चय स्वाध्याय तप है, और पढ़ना-पूछना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्मोपदेश—ऐसे पाँच प्रकार व्यवहार-स्वाध्याय के हैं। यदि वह व्यवहार, निश्चय के अर्थ से हो तो वह व्यवहार भी सत्यार्थ है; निश्चय के बिना व्यवहार थोथा है।

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी-प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें !

समयसार प्रवचन – भाग १	६–०–०
समयसार प्रवचन – भाग २	५–०–०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें	१–६–०
दसलक्षणधर्म	०–१२–०
सम्यग्दर्शन	२–८–०
भेदविज्ञानसार	२–०–०
मूल में भूल	०–१२–०
मुक्ति का मार्ग	०–१०–०
आत्मधर्म की वार्षिक फाइलें	३–१२–०

उपरोक्त पुस्तकों में ''सम्यग्दर्शन'' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

(डाक व्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये

जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया